International Journal of Humanities Social Science and Management (IJHSSM)
Volume 5, Issue 4, Jul. - Aug., 2025, pp: 294-297 ISSN: 3048-6874
www.ijhssm.org

सल्तनतकालीन धातुगिरी प्रक्रिया का विश्लेषण

डॉ. मो. गुलफराज अहमद
स्नातकोत्तर प्राचीन भारतीय इतिहास,संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग
टी. एम. बी. यु. , भागलपुर

Date of Submission: 05-07-2025 Date of Acceptance: 16-07-2025

सल्तनत काल में धातु गिरी के काम बहुत ही उन्नत अवस्था में थी। इस समय विभिन्न प्रकार के धातुओं से मिश्र धातुओं का निर्माण हुआ जो जीवन में उपयोगी था। इससे विभिन्न प्रकार के लोगों को रोजगार प्राप्त था और यह अर्थव्यवस्था में अपने महत्वपूर्ण भूमिका निभा रहे थे, धातुओं से न सिर्फ इस काल में महत्वपूर्ण सिक्के डाले गए बल्कि विभिन्न प्रकार के औजार, बर्तन, घरेलू सामग्री इत्यादि भी बनाए गए साथ ही साथ इन धातुओं के प्रयोग से कृषि कार्य में उन्नति आया क्योंकि धातु के प्रयोग ने कृषि तकनीक को और अधिक सक्षम बना दिया। भारत में सल्तनत काल में लोहा, तांबा, सोना और चांदी जैसी धातुओं का बहु-उद्देश्यों के लिए बड़े पैमाने पर उपयोग किया जाता था। कारीगर बहुत कुशल थे और उन्होंने धातुओं के उपयोग और उनकी मिश्रधातु बनाने में विशेषज्ञता हासिल कर ली थी। खदानों को लूट के रूप में माना जाता था और इसलिए पाँचवाँ हिस्सा राज्य को उसके हिस्से के रूप में जाता था और चार-पाँचवाँ हिस्सा खोजकर्ता को दिया जाता था।[1]

बीज शब्द – धातु, लोहा, धातुगिरी, अर्थव्यवस्था, चांदी, तांबा, सल्तनत काल

लोहा

यह हथियार, कृषि उपकरण और घरेलू सामान बनाने के लिए सबसे लोकप्रिय धातु थी। भारत में असाधारण रूप से उच्च ग्रेड का लौह अयस्क खनन किया गया था और इसका उपयोग डैमास्किन स्टील बनाने के लिए किया गया था जिसकी दुनिया भर में प्रतिष्ठा थी, ग्वालियर से शुरू होकर दक्षिण भारत के सिरे तक फैले बिखरे पहाड़ी क्षेत्र में लोहे का खनन किया जाता था।[2] इसे इसके अयस्कों से उन तरीकों से निकाला जाता था जो काफी प्रभावी थे। इस उद्देश्य के लिए भट्टियां बनाई गई थीं और उत्पाद सराहनीय था। कोयले का खनन नहीं किया जाता था बल्कि लकड़ी और लकड़ी का कोयला से गर्मी पैदा की जाती थी। धातु कर्म हेतु कम से कम 25 फीट ऊंची बड़ी झोपड़ियाँ थीं, जिनकी छप्पर चारों तरफ से ज़मीन तक पहुँचती थी। दो व्यासों में 15 गुणा 30 फीट का अंडाकार आकार का आंतरिक भाग तीन कक्षों में विभाजित था, जिसमें मध्य वाला कक्ष गलाने का कक्ष था।[3] नीचे की ओर इशारा करते हुए नोजल वाली दो बड़ी दोहरी धौंकनी, कक्ष के एक तरफ रखी गई थीं ये कमर के बल पर और पैर की ताकत से तेजी से काम करते थे। धौंकनी की नोक एक ट्यूब में जुड़ी हुई थी जो एक तरह की हवा की छाती से भूमिगत होकर, उनके सामने लगभग चार फीट की दूरी पर चूल्हे तक जाती थी। चूल्हे के ऊपर पाइप-मिट्टी की एक चिमनी थी जो लोहे के हुप्स से बंधी हुई थी, जिसका व्यास नीचे दो फीट और ऊंचाई लगभग 6 फीट थी। नीचे का मुंह धौंकनी से दूर की तरफ था, और चिमनी उनसे झुकी हुई थी ताकि गलाने वाले से गर्म हवा को छत के एक छेद की ओर निर्देशित किया जा सके। धौंकनी के दाईं ओर और चिमनी के शीर्ष के साथ, एक नाली थी जिसमें नम लकड़ी का कोयला और लौह-रेत था। अपने शरीर की हर हरकत पर, ऑपरेटर एक लंबे चम्मच के साथ इस लकड़ी के कोयले के टुकड़े को, लोहे की रेत के साथ, भट्ठी की कीप के नीचे गिराता है, और जब चूल्हे पर पिघले हुए या बल्कि नरम लोहे का एक ढेर बन जाता है, तो उसे चिमटे से बाहर निकाला जाता है, और निहाई के माध्यम से एक बड़े पत्थर पर एक भारी लकड़ी के हथौड़े से पीटा जाता है।[4] इस अवस्था में लोहे को बिक्री या वस्तु विनिमय के लिए मैदानों में भेजा जाता था।

भारतीय कारीगरों ने लौह-कार्बन मिश्र धातुओं और इसके विभिन्न चरणों का ज्ञान प्राप्त किया जैसा कि 13वीं शताब्दी ईस्वी के ग्रंथ यानी रस रत्न समुच्चय में दर्शाया गया है जिसमें लोहे की विभिन्न किस्मों पर एक खंड है। उदाहरण के लिए, कंटालोहा , नरम गढ़ा लोहा इसके पांच उप-प्रकारों के साथ। दूसरी प्रमुख किस्म मुंडलोहा थी, जो बस्तर जिले के धातु शिल्प जनजातियों में से एक मुंडिया से उत्पन्न हुई थी । इसकी तीन उप-किस्में थीं: (ए) मृदु (बी) कुंथा (सी) कदारा। मृदु तीनों में सर्वश्रेष्ठ थी। तीक्ष्णलोहा और/या कार्बन स्टील की छह उप - किस्में थीं । ये काफी कठोर सामग्री कार्बुराइज्ड लोहा थी जो हाइपो - यूटेक्टॉइड (0.83% से कम कार्बन) हो सकती थी।[5]

International Journal of Humanities Social Science and Management (IJHSSM)
Volume 5, Issue 4, Jul. - Aug., 2025, pp: 294-297 ISSN: 3048-6874
www.ijhssm.org

ताँबा

आईने -ए -अकबरी के अनुसार न केवल शुद्ध तांबा बल्कि अन्य धातुओं के साथ इसकी मिश्रधातु भी बनाई जाती थी।[6] उदाहरण के लिए तांबे की मिश्रधातुओं की श्रेणी में सबसे पहले सफीदरू आता है , जिसे भारतीय कासी (4 सेर तांबे में 1 सेर टिन का मिश्रण, एक साथ पिघलाया जाता है) के रूप में जानते थे।[7] दूसरा था रूही , 4 सेर तांबे में 1-1/2 सेर सीसा, जिसे भंगर भी कहते हैं। तीसरा था पीतल या पीतल , इसे 3 तरीकों से बनाया जाता था: पहला, 1 सेर रूही तूतिया में 2% सेर तांबा , जो ठंडा होने पर लचीला होता था; दूसरा, 1 सेर रूही- तूतिया में 2 सेर तांबा, जो गर्म होने पर लचीला होता था तूतिया हथौड़े से नहीं, बल्कि ढलाई से बनाया जाता था। चौथा था सिमी सुख्ता , यह सीसा, चांदी और कांसे से बना होता था, इसमें काली चमक होती थी और इसका इस्तेमाल पेंटिंग में किया जाता था। पांचवां था हफ्त-जोश, (सप्त) लोहा , सात धातुओं का मिश्र धातु था जिसमें सोना, चांदी, तांबा, टिन, लोहा, सीसा और जस्ता शामिल था। छठा अष्टधातु था , यह आठ धातुओं का एक यौगिक था[8] , जो हफ्त-जोश और पारा (सोने के साथ मिश्रण के रूप में उपयोग किया जाता है) से बना था। इन खानों के कामकाज और अयस्क के प्रसंस्करण का कोई विवरण उपलब्ध नहीं है। सुल्तान मोहम्मद बिन तुगलग ने बड़े पैमाने पर टोकन सिक्के (कांस्य सिक्के)[9] जारी करने का प्रयोग किया, ताकि धातुकर्मियों को फिर से तांबे के मिश्रधातु यानी कांस्य के सिक्के बनाने के अवसर मिलें।[10] सल्तनत काल के धातुकर्मियों ने उच्च गुणवत्ता वाले सिक्के बनाए, जैसा कि सिक्का बनाने में उनके कौशल से पता चलता है। इसलिए सिक्के बनाने के लिए तांबे का इस्तेमाल किया गया।[11]

टिन इस धातु का उपयोग भारत में प्राचीन काल से किया जाता रहा है। इसका उपयोग मिश्रधातु बनाने के लिए किया जाता था। टिन की मांग तब बढ़ी जब टिन-कोटिंग का प्रचलन शुरू हुआ, यह तुर्कों के साथ आया, इसे लगभग 1300 ई. में शुरू किया गया था।[12] यह ज्ञात है कि बहमनी साम्राज्यों के सिक्के उत्खनन (1347-1500) के दौरान पाए गए हैं और इसके साथ ही एक तांबे का कंटेनर भी मिला है, जिसमें उत्खनन स्थल यानी ब्रह्मपुरी में कंटेनर के अंदर और बाहर दोनों तरफ टिन की कोटिंग थी।[13] कलहई या कैलाई शब्द अरबी था, और यह संस्कृत के कस्तिरा या ग्रीक कैसिटेरर्स से लिया गया हो सकता है। टिन के प्रमुख उपयोग कांस्य, बेल धातु और तांबे और तांबे की मिश्रधातु के बर्तन बनाने में थे।[14] टिन-कोटिंग शाही घराने और आम लोगों में इसकी मांग के कारण पेशा बन गया, उन्हें कलहईगर के नाम से जाना जाता था । वे टिन-कोटिंग के लिए घर-घर घूमते थे और इस उद्देश्य के लिए आवश्यक सभी सामग्रियों और उपकरणों के साथ-साथ शहरों में उनकी नियमित दुकानें भी थीं। [15]

सोना

यह धातु इस काल में बहुमूल्य और बहुत महत्वपूर्ण थी। स्वर्णकार सोने के आभूषण और अन्य उत्पादों के उत्पादन में विशेषज्ञ थे, इसके अलावा सोने के खनन, इसके अयस्कों से निष्कर्षण आदि की प्रक्रिया में बड़ी संख्या में कारीगर कार्यरत थे।[16] प्रक्रिया बहुत सरल थी, कारीगरों द्वारा नियोजित उपकरण में चार फीट लंबा एक तख्ता होता है, जो ऊपरी सिरे पर ढाई फीट चौड़ा होता है और निचले सिरे की ओर पतला होता जाता है, जो कि डेढ़ फीट का होता है, इसे इस तरह खोखला किया जाता है कि दोनों तरफ और ऊपरी सिरे पर आधा इंच का किनारा रह जाए, पानी के बहने के लिए निचले सिरे को खुला छोड़ दिया जाता है, तख्ते के निचले आधे हिस्से को लगातार आधे इंच गहरे और उतने ही चौड़े खांचे में काट दिया जाता है। तख्ते को निचले सिरे की ओर थोड़ा ढलान देकर रखा जाता है और रेत को एक मोटे छलनी से धोया जाता है जो इसे कंकड़ और बजरी से अलग करता है; तख्ते के खांचे में बची हुई बारीक रेत को फिर लकड़ी के खांचों में रखा जाता है, अंदर की तरफ कीऊ (कीऊ पेड़ का काला वार्निश) से पॉलिश किया जाता है इसे इस तरह डुबोया गया कि इसका बाहरी किनारा पानी की सतह के बराबर रह जाए और घूर्णी गति से बारीक रेत धुल गई और सोना छोटे पात्र में रह गया। ब्रह्मपुत्र, सुनारखा और सोना नदी के निक्षेपों में बड़ी संख्या में पेशेवर सोना धोने वालों को काम पर लगाया गया था। [17] आइन -ए - अकबरी में टकसाल के कामकाज का विवरण देते हुए कीमती धातुओं की शुद्धता की जांच करने के तरीकों का वर्णन किया गया है, जिसमें दो कीमती धातुओं को एक दूसरे से और अन्य अवयवों से अलग करना शामिल है। सराफी (स्वर्णकार) इन धातुओं को संभालने में माहिर थे और उनके काम में शामिल सभी ज्ञात भौतिक और रासायनिक प्रक्रियाओं का उपयोग करते थे। आइन-ए-अकबरी में दिखाए गए खनन उद्योग में विभिन्न प्रकार के श्रमिक कार्यरत थे।[18]

प्लेट बनाने वालों द्वारा बनाई गई सोने की प्लेटें 6 या 7 माशा की होती थीं और लंबाई और चौड़ाई 6 या 7 अंगुल होती थी। इन्हें मिलावटी सोने की प्लेटें कहा जाता था। इन्हें आइन- ए- अकबरी में दी गई निम्नलिखित विधि से परिष्कृत किया जाता था। "जब ऊपर बताई गई प्लेटों पर मुहर लग जाती है, तो सोने के मालिक को हर 100 जलाली सोने की मुहर के वजन के हिसाब से चार सेर शोरा और चार सेर कच्ची ईंटों का चूरा देना चाहिए। प्लेटों को साफ पानी में धोने के बाद, ऊपर बताए गए मिश्रण (शोरा और ईंट के चूरे) से स्तरित किया जाता है, और एक के ऊपर एक जंगली गाय के पूरे शरीर को रखा जाता है। फिर वे उसमें आग लगाते हैं, और उसे धीरे-धीरे जलने देते हैं, जब तक कि गोबर राख में बदल न जाए, जब वे उसे ठंडा होने के लिए छोड़ देते हैं, तो राख को किनारों से हटाकर सुरक्षित रख दिया जाता है। उन्हें फारसी में खाक- ए -

International Journal of Humanities Social Science and Management (IJHSSM)
Volume 5, Issue 4, Jul. - Aug., 2025, pp: 294-297 ISSN: 3048-6874
www.ijhssm.org

खालिस और हिंदी में सलोनी कहा जाता है। एक प्रक्रिया के द्वारा, जिसका आगे उल्लेख किया जाएगा, वे उसमें से चांदी निकालते हैं। प्लेटों और उनके नीचे की राख को वैसे ही छोड़ दिया जाता है। गोबर में आग लगाने और किनारों से राख हटाने की यह प्रक्रिया दो बार दोहराई जाती है। जब तीन बार आग लगाई जाती है, तो वे प्लेटों को सीताई कहते हैं। फिर उन्हें फिर से साफ पानी में धोया जाता है पानी, और उपरोक्त मिश्रण के साथ तीन बार स्तरीकृत, पक्षों की राख को हटा दिया जाता है। यह ऑपरेशन तब तक दोहराया जाना चाहिए जब तक कि छह मिश्रण और अठारह आग न लग जाएं, जब प्लेटों को फिर से धोया जाता है। फिर परख मास्टर उनमें से एक को तोड़ता है, और अगर नरम और हल्का गोल निकलता है, तो यह पर्याप्त रूप से शुद्ध होने का संकेत है; लेकिन अगर गोल कठोर है, तो प्लेटों को तीन और आग से गुजरना होगा। फिर प्रत्येक प्लेट से एक माशा निकाला जाता है, जिसके मिश्रण से एक प्लेट बनाई जाती है। इसे टचस्टोन पर आज़माया जाता है; यदि यह पर्याप्त रूप से ठीक नहीं है, तो सोने को फिर से एक या दो आग से गुजरना पड़ता है। हालाँकि, अधिकांश मामलों में, वांछित प्रभाव तीन या चार आग से प्राप्त होता है" [19]"प्लेट बनाने वालों के बाद, अन्य कारीगर परिष्कृत धातु को पिघलाने वाले थे, ज़र्राब (वह सोने, चांदी और तांबे को सिक्के के आकार के गोल टुकड़ों में काटता है), उत्कीर्णक (वह स्टील और इस तरह की अन्य धातुओं पर सिक्कों के डाइस को उकेरता है, फिर सिक्कों पर उनके डाइस से मुहर लगाई जाती है), सिक्काची (वह धातु के गोल टुकड़ों को दो डाइस के बीच रखता है; और हथौड़े की ताकत से दोनों तरफ मुहर लगाई जाती है)", [20]

चाँदी

यह धातु भी सोने के बाद बहुमूल्य थी, तथा इसका उपयोग आभूषणों, बर्तनों आदि में होता था। जो कारीगर इस कार्य में विशेषज्ञ होता था, आइन- ए -अकबरी में चांदी के शोधन की विधि विस्तार से दी गई है जो नीचे दी गई है:-"वे एक गड्ढा खोदते हैं, और उसमें थोड़ी मात्रा में जंगली गाय का गोबर छिड़कते हैं, उसमें मुगलन लकड़ी (बबूल) की राख भरते हैं; फिर उसे गीला करते हैं, और उसे एक बर्तन के आकार में ढालते हैं; इसमें वे मिलावटी चांदी और उसके साथ सीसे की एक समान मात्रा डालते हैं। सबसे पहले, वे चांदी के ऊपर सीसे का एक चौथाई हिस्सा डालते हैं, और पूरे हिस्से को कोयले से घेरकर, धौंकनी से आग को तब तक उड़ाते हैं, जब तक कि धातु पिघल न जाए, यह प्रक्रिया आम तौर पर चार बार दोहराई जाती है। धातु के शुद्ध होने के गुण बिजली की तरह चमकते हैं और इसके किनारों पर सख्त होने लगते हैं। जैसे ही यह बीच में सख्त हो जाता है, वे इस पर पानी छिड़कते हैं, तब जंगली बकरियों के सींगों जैसी लपटें निकलती हैं। फिर यह एक डिस्क के रूप में बन जाती है, और पूरी तरह से परिष्कृत हो जाती है। अगर इस डिस्क को फिर से पिघलाया जाए, तो हर कुल में आधा सुर्ख जल जाएगा यानी 6 माशा और 100 तोले में 2 सुर्ख। चक्र की राख को चांदी और सीसे के साथ मिलाकर एक प्रकार का लिथर्ज बनाया जाता है, जिसे हिन्दी में खरल और फारसी में कुहना कहा जाता है। [21]

आइन -ए -अकबरी में सोने से चांदी को अलग करने की प्रक्रिया बताई गई है। इसके अनुसार, "वे इस मिश्रण को छह बार पिघलाते हैं; तीन बार तांबे के साथ और तीन बार गंधक के साथ , जिसे हिंदी में छछिया कहते हैं। मिश्रधातु के हर तोले के लिए, वे एक माशा तांबा और दो माशा, दो सुर्ख गंधक लेते हैं। पहले वे इसे तांबे के साथ और फिर गंधक के साथ पिघलाते हैं। यदि मिश्रधातु 100 और तोले वजन की है, तो 100 माशा तांबे का उपयोग इस प्रकार किया जाता है। पहले वे उससे पचास माशा पिघलाते हैं , फिर दो बार पच्चीस माशा पिघलाते हैं। गंधक का भी इसी अनुपात में प्रयोग होता है। सोने-चाँदी के मिश्रण को छोटे-छोटे टुकड़ों में तोड़कर उसमें पचास माशा ताँबा मिलाकर उसे कुठाली में पिघलाते हैं। उनके पास ठंडे पानी से भरा एक बर्तन होता है, जिसकी सतह पर घास का झाड़ू जैसा गट्ठा रखा होता है। उस पर वे पिघली हुई धातु डालते हैं और उसे डंडे से हिलाकर ढेर बनने से रोकते हैं। इस तरह इन टुकड़ों को फिर पिघलाकर, कुठाली में बचे हुए ताँबे के साथ मिलाकर, उसे छाया में ठंडा होने के लिए रख देते हैं और इस मिश्रण के तोले के लिए दो माशा और दो सुर्ख गंधक का प्रयोग होता है, अर्थात् डेढ़ चौथाई सेर (3/8 सेर) प्रति सौ तोला की दर से। जब इसे इस तरह तीन बार पिघलाया जाता है, तो सतह पर एक सफेद रंग की राख दिखाई देती है, जो चाँदी होती है। इसे निकाल कर अलग रख दिया जाता है और इसकी प्रक्रिया आगे बताई जाएगी। जब सोने और चांदी के मिश्रण को तांबे के लिए तीन आग और गंधक के लिए तीन आग में इस तरह से तपाया जाता है तो जो ठोस हिस्सा बचता है वह सोना होता है। पंजाब की भाषा में इस सोने को कैल कहते हैं और लगभग दिहली में इसे पिंजर कहते हैं। अगर मिश्रण में ज्यादा सोना है तो आम तौर पर यह साढ़े छह बन निकलता है लेकिन अक्सर यह पांच और यहां तक कि चार भी होता है। इस सोने को परिष्कृत करने के लिए नीचे दी गई विधियों में से एक का इस्तेमाल करना होगा। या तो वे इसके पचास तोले को 400 तोले शुद्ध सोने के साथ मिलाकर सलोनी विधि से परिष्कृत करते हैं या फिर स्लोनी विधि का इस्तेमाल करते हैं। स्लोनी विधि के लिए वे दो भाग जंगली गाय का गोबर और एक भाग शोरा का मिश्रण बनाते हैं। फिर उक्त पिंजर को सिल्लियों में ढालकर, वे इसे प्लेटों में बनाते हैं, जिनमें से कोई भी 11/2 तोला से हल्का नहीं होना चाहिए, बल्कि सलोनी प्रक्रिया में बनाए गए प्लेटों से थोड़ा चौड़ा होना चाहिए। फिर उन्हें तिल के तेल से भिगोकर, वे उन पर उपरोक्त मिश्रण छिड़कते हैं, प्रत्येक छिड़कने के बाद उन्हें दो बार हल्की आग देते हैं। यह प्रक्रिया वे तीन या चार बार दोहराते है।[22]

International Journal of Humanities Social Science and Management (IJHSSM)
Volume 5, Issue 4, Jul. - Aug., 2025, pp: 294-297 ISSN: 3048-6874
www.ijhssm.org

बिद्री

यह जस्ता, तांबा, सीसा, टिन और लोहे का एक मिश्र धातु है, बिदरीवेयर चिकना और चिकना गहरे रंग का धातु का काम है जिसकी चमकदार सतह पर बहुत छोटा और नाजुक काम है।[25] यह शिल्प एक तरह का दमिश्क का काम है। ये कारीगर सीरिया या इराक से भारत आए थे और कुछ राजस्थान के अजमेर में बस गए थे और कुछ 15वीं सदी के दौरान दक्षिण की ओर चले गए और बीदर में बस गए। जब यह कला 18वीं सदी में फली-फूली तो इसे बिदरीवेयर शिल्प के रूप में जाना जाने लगा। बिदरीवेयर की सतह को चिकना बनाया जाता है और उत्कीर्णन के लिए इसे अस्थायी रूप से काला करने के लिए कॉपर सल्फेट का घोल लगाया जाता है। फिर इसकी सतह पर हल्के रंग और नाजुक डिजाइन उकेरे जाते हैं और डिजाइन का यह पैटर्न स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। फिर यह टुकड़ा इनलेयर में जाता है, उसने चांदी, पीतल या सोने का इनले काम किया। इस प्रक्रिया के बाद, काली सतह पाने के लिए अंतिम चरण को चमकाया गया है। यह अमोनियम क्लोराइड पोटेशियम नाइट्रेट, सोडियम क्लोराइड, कॉपर सल्फेट और मिट्टी का पेस्ट लगाकर किया जाता है जो इनले पर कोई प्रभाव नहीं डालते हुए एक विशिष्ट काले रंग की परत बनाकर शरीर को काला कर देता है। फिर पेस्ट को धोया जाता है और अंत में पेटिना के कालेपन को गहरा करने के लिए टुकड़े में तेल रगड़ा जाता है। इसके परिणामस्वरूप चमकदार घनी काली परत चमकदार अस्तर-सफेद (चांदी) या पीले (पीतल या सोना) के विपरीत होती है।

इस प्रकार देखते हैं कि सल्तनत काल में विभिन्न प्रकार के धातु का निष्कर्ष बड़ी सटीक तरीके से होता था। धातुओं को एक दूसरे से अलग करने की प्रक्रिया की भी स्पष्ट रूप जानकारी थी। शुद्ध से शुद्धतम धातु प्राप्त करने की प्रक्रियाओं से भी वे वाकिफ थे। यहां तक की विभिन्न प्रकार के मिश्र धातु बनाने में भी वे सक्षम थे। यही वजह है कि सल्तनत काल में विभिन्न प्रकार के सिक्के धातु के बनाए गए जिसमें सोना, चांदी, तांबा, और कांसा शामिल थे। अंत में यह कहना अतिशयोक्ति नहीं होगा कि सल्तनत काल में धातु गिरी की स्थिति उच्च थी जिसने अर्थव्यवस्था को सबलता प्रदान की।

संदर्भ

1. तपन राय चौधरी और इरफान हबीब , *कैम्ब्रिज इकोनॉमिक हिस्ट्री ऑफ इंडिया* , खंड-1, दिल्ली, 1982,पृ.77
2. ओपी जग्गी, *मध्यकालीन भारत में विज्ञान और प्रौद्योगिकी, खंड- VII* , दिल्ली, 1974, पृ.104
3. वही; पृ.103
4. वही; पृ.113
5. रहमान, *भारत का इतिहास विज्ञान, प्रौद्योगिकी और संस्कृति1000-1800 ई. खंड III,* नई दिल्ली, 2000, पृ.306
6. ओपी जग्गी, *विज्ञान और प्रौद्योगिकी,* पृ.113
7. शम्स सिराज अफीफ , *तारीख- ए -फिरोज शाही* , इंजी. ट्र. आरसी जौहरी द्वारा , नई दिल्ली, 2001, पृ.195
8. ईश्वर प्रसाद, भारत में *करौना तुर्कों का इतिहास , खंड-1,* इलाहाबाद, 1974 पृ.101
9. के.एम. अशरफ, *हिंदुस्तान के लोगों का जीवन और परिस्थितियाँ* , दिल्ली, 1959, पृ.123
10. रहमान , *भारत का इतिहास विज्ञान, प्रौद्योगिकी* , पृ.306
11. पी.एन. चोपड़ा, *भारत का सामाजिक, सांस्कृतिक और आर्थिक इतिहास, खंड 2 , दिल्ली* , 1974, पृ.102
12. ओपी जग्गी, *विज्ञान और प्रौद्योगिकी*, पृ. 113
13. जॉन एस. डेल , *लिविंग विदाउट सिल्वर, नई दिल्ली,* 2005, पृ. 249-251
14. अबुल फ़ज़ल, *आइन- ए -अकबरी*, अंग्रेजी अनुवाद, एच. ब्लॉकमैन, खंड-I, दिल्ली, 1965, पृ.18
15. वही, पृ.20
16. वही, पृ. 22
17. के.एम. अशरफ, जीवन और परिस्थितियाँ, पृ. 123
18. हसन निज़ामी , ताजुल- मासिर , एचएम इलियट और डाउसन द्वारा संपादित, भारत का इतिहास जैसा कि इसके अपने इतिहासकार द्वारा बताया गया, खंड-II, पृ.241
19. ताजुल- मासिर , ई एवं डी, II , पृ.241
20. पी.एन. चोपड़ा, *सामाजिक, सांस्कृतिक और आर्थिक*, पृ.101
21. वही; पृ.101
22. मिन्हाजसिराज , *तबक़त - ए -नासिरी*, इलियट और डाउसन द्वारा संपादित,
भारत का इतिहास, अपने इतिहासकार द्वारा बताया गया, खंड 2 , लखनऊ, पृ .309
23 . आइन- ए -अकबरी, III, पृ.346-47
24 . वही; खंड-I, पृ. -22
25. वही; पृ-24